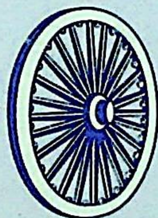
भगवान बुद्ध की साम्प्रदायिकता-विहीन शिक्षा



विपश्यनाचार्य श्री सत्यनारायण गोयन्का

भगवान बुद्ध की

सांप्रदायिकता-विहीन शिक्षा



विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि, इगतपुरी

प्रथम संस्करण : २००७
संस्करण : २००८, २०१२

मूल्यः रु. १०.००

ISBN: 978-81-7414-289-4

प्रकाशकः
विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि, इगतपुरी - ४२२ ४०३
जिला- नाशिक, महाराष्ट्र
फोन: ०२५५३-२४४०७६, २४४०८६, २४३७१२,
२४३२३८; फैक्स: ९१-२५५३-२४४१७६
Email: vri_admin@dhamma.net.in
info@giri.dhamma.org
Website: www.vridhamma.org

मुद्रकः
अपोलो प्रिंटिंग प्रेस
जी-२५९, सीकॉफ लिमिटेड, ६९ एम. आय. डी. सी.,
सातपुर, नाशिक-४२२००७, महाराष्ट्र

विषय-सूची

भगवान बुद्ध की साम्प्रदायिकता-विहीन शिक्षा

मैं वर्मा में एक अत्यंत कट्टर हिंदू सनातनी परिवार में जन्मा और पला। दादा राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत रहते थे, अतः यह भावना भी विरासत में मिली। किशोर अवस्था में पड़ोस के आर्यसमाज के संपर्क में आया। इस कारण अधिक नहीं तो भी अंधविश्वासों से परहेज और समाजसुधार की भावनाओं से वहुत प्रभावित हुआ। खालसा स्कूल में मैट्रिक तक की पढ़ाई की। इससे सद्गुरुओं और संतों की वाणी का भी गहरा प्रभाव पड़ा। परंतु भारत की इन वहुरंगी संस्कृतियों के साथ-साथ कट्टर हिंदुत्व ने मुझे भगवान बुद्ध को विष्णु का अवतार मान कर उनके प्रति श्रद्धा तो जगायी परंतु उनकी शिक्षा के वारे में फैली हुई भ्रांतियों से प्रभूत रूप से प्रभावित होने के कारण एक वुद्धानुयायी देश में रहते हुए भी और युवावस्था में सौभाग्य से वहां के शीर्षस्थ विद्वानों से निकट संवंध हो जाने पर भी, अपने आप को वुद्ध की शिक्षा से दूर रखना ही उचित समझा। उनकी शिक्षा नास्तिकवादी है, देश की सुरक्षा खतरे में हो तव भी चरम अहिंसावादी वना रहना सिखाती है और गृहस्थ को केवल गृह त्यागने का ही उपदेश देती है। अतः उसे नितांत दुःखवादी, और अमंगलकारी मान कर अपने आप को उससे दूर ही रखता रहा।

लेकिन इकत्तीस वर्ष की उम्र होते-होते वेहद झिझक के वावजूद मुझे भगवान वुद्ध की शिक्षा के जिस शिविर में सम्मिलित होना पड़ा, इसका कारण अव वहुविदित है।

वहां मुझे क्या मिला?

शिविर के पूर्व ही पूज्य गुरुदेव ऊ वा खिन ने कहा था कि विपश्यना के शिविर में केवल शील, समाधि और प्रज्ञा का ही प्रयोगात्मक प्रशिक्षण दिया जाता है। भगवान बुद्ध ने भी यही शिक्षा दी थी। तुम्हें इस विद्या को आजमा कर देखना हो तो इसे पूरा न्याय देना होगा। यानी जितने दिनों प्रयोग चल रहा हो उतने दिनों जितना वताया जाय उतना ही, जैसे वताया जाय वैसे ही दृढ़तापूर्वक काम करना होगा। दस दिन के शिविर समापन पर तुम पूर्णतया स्वतंत्र हो। स्वयं अपने

मालिक हो। शिविर में जो-जो कुछ सुना या सीखा उसमें से जितना तुम्हें स्वीकार्य हो, उतना स्वीकार कर लेना। जो अस्वीकार्य हो, उसे वेझिझक छोड़ देना। परंतु यदि पूरा ही स्वीकार्य हो तो उसे जीवन में उतारने में लग जाना।

मैं उनकी इन वातों से वहुत कुछ आश्वस्त हुआ, यद्यपि मन में अनेक अनुत्तरित प्रश्न तव भी कुलवुला रहे थे। फिर भी साहस करके १ सितंवर, १९५५ को उनके विपश्यना शिविर में सम्मिलित हुआ। संयोग से वह २५०० वर्ष के द्वितीय वुद्ध शासन का प्रथम वर्ष था।

शिविर आरंभ होने के कुछ समय पहले मुझे एक छोटी-सी पुस्तिका पढ़ने के लिए दी गयी।

इसके पहले पृष्ठ पर ही लिखा था-

"मत मानो।

किसी वात को केवल इसलिए मत मानो कि इसे वहुत लोग मानते हैं। अथवा यह चिरकाल से मानी जाती रही है। अथवा यह मेरे धर्मग्रंथों की वाणी है। यहां तक कि इसे एक अत्यंत आकर्पक व्यक्तित्व का धनी और मृदुभापी आचार्य कह रहा है। तव भी मत मानना। यानी मेरे कथन को भी मत मानना।

मानना तभी जवकि तुम उसे स्वयं अपने अनुभव पर उतार कर यह जान लो कि यह मेरे लिए ही नहीं, सव के लिए कल्याणकारिणी है, हितसुखकारिणी है। तव केवल मान कर ही मत रह जाना, वल्कि उसे जीवन में उतार कर उससे लाभान्वित होना।"

इन थोड़े-से शव्दों के वाचन से मेरे मन में वुद्ध की शिक्षा के प्रति जो थोड़ी-वहुत भ्रांतियां थीं, वे सारी दूर हो गयीं, ऐसा तो नहीं कहता। लेकिन इतना आश्वस्त अवश्य हुआ कि उनकी यह विद्या कोरी उपदेशात्मक नहीं है, वल्कि क्रियात्मक है और इसमें अंधविश्वासों, अंधमान्यताओं तथा गुरुडम की धोखाधड़ी के लिए रंचमात्र भी गुंजाइश नहीं है।

मैंने दस दिन दत्तचित्त होकर जैसे आदेश दिये गयें, वैसे काम किया और यह देख कर चकित रह गया कि यह विद्या कितनी वैज्ञानिक है, युक्तिसंगत है, कल्याणकारिणी है और आशुफलदायिनी है।

मेरा वर्षों का माइग्रेन का असह्य रोग सदा के लिए दूर हो गया और उसके आक्रमण पर जो मोर्फिया की सूई दी जाती थी उससे भी सदा के लिए छुटकारा मिल गया। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि यह सब कुछ गुरुदेव के जादू या चमत्कार से नहीं हुआ, बल्कि 'रोग के कारण और निवारण' के वैज्ञानिक तथ्यों को अनुभूति के स्तर पर स्वयं जान लेने पर हुआ।

माइग्रेन की पीड़ा के अतिरिक्त काम, क्रोध और अहंकार के विकारों की तीव्रता का शिकार होने के कारण मैं त्रस्त रहता था, तनावभरा जीवन जीता था। यह कहना गलत होगा कि इन दस दिनों में मेरे ये सारे विकार काफूर हो गये, लेकिन इतना अवश्य सच है कि वे दुर्बल होने लगे और सुबह-शाम की नित्यप्रति की साधना और अनेक बार दस दिन का ही नहीं, बल्कि लंबी अवधि का भी शिविर लेते-लेते वे दुर्बल होते हुए अत्यंत क्षीण हो गये। जब साधना से यों प्रत्यक्ष लाभान्वित होने लगा तब मन में जिज्ञासा जागी कि भगवान बुद्ध की वाणी भी पढ़ कर देखूं। मेरे गुरुदेव की भी यही इच्छा थी कि मैं विपश्यना के प्रयोगात्मक पक्ष के साथ-साथ, सैद्धांतिक पक्ष को भी जानूं। अतः मैंने बुद्धवाणी का अध्ययन आरंभ किया।

विपश्यना और बुद्ध की मूल वाणी का अध्ययन करते हुए मेरे सामने जो अनेक अनजाने तथ्य प्रकट हुए वे सचमुच विस्मयकारी थे।

भगवान बुद्ध की खोज

अध्यात्म जगत के उस महान वैज्ञानिक ने किसी आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों का प्रयोग किए बिना, केवल ध्यान के बल पर जो महत्त्वपूर्ण खोजें की, वे सचमुच विस्मयजनक थीं।

दो प्रकार के सत्य

उसने दो प्रकार के सत्य खोज निकाले। एक को, प्रज्ञप्त सत्य यानी प्रकट सत्य, यानी भासमान सत्य कहा। यानी वह सत्य जो जैसे प्रतीत हो रहा हो। दूसरे को, परमार्थ सत्य कहा यानी जो वस्तुतः सही सत्य है।

इन सच्चाइयों के आधार पर उसने खोज की कि हमारा भौतिक शरीर ही नहीं, बल्कि सारे ब्रह्मांड के छोटे-बड़े सभी भौतिक पदार्थ जो यद्यपि ठोस

प्रतीत होते हैं, तथापि ठोस नहीं हैं। ये सभी नन्हें-नन्हें कलापों से यानी परमाणुकणों से बने हैं, जिनमें ठोसपने का नामोनिशान नहीं है। इनमें प्रतिक्षण प्रज्वलन और प्रकंपन होता रहता है।[१]

हमारा मानस भी जब क्रोध, द्वेष, दुर्भावना अथवा भय, आसक्ति आदि के विकारों से ग्रस्त होता है तब लगता है कि वह घनीभूत और ठोस हो गया है। वस्तुतः इसमें भी कहीं ठोसपना नहीं है। महज प्रज्वलन-प्रकंपन ही है। सजीव हो या निर्जीव, सभी मात्र तरंगें हैं। ऐसी तरंगें जो प्रतिक्षण उत्पन्न हो-होकर नष्ट होती रहती हैं। किन्हीं दो क्षणों में एक जैसी नहीं रहतीं।

शारीरिक संवेदनाएं (Body Sensations)

उस वैज्ञानिक ने यह भी जाना कि शरीर और चित्त के इस सतत प्रकंपन से प्राणी शारीरिक संवेदनाएं महसूस करता है जो कि सुखद होती हैं या दुःखद अथवा असुखद-अदुःखद। ये संवेदनाएं जब सुखद होती हैं तब प्राणी इनके प्रति राग (आसक्ति) जगाता है और जब दुःखद होती हैं तब द्वेष जगाता है। जो सुखद लगती है, वह कायम रहे, उसका बढ़ावा हो, वह कहीं नष्ट न हो जाय, इस लक्ष्य से उसके प्रति राग की तृष्णा जगाता है। जो दुःखद लगती है वह, दूर हो, उसका बढ़ावा न हो, इस लक्ष्य से उसके प्रति द्वेष की तृष्णा जगाता है। तृष्णा चाहे राग पर आधारित हो या द्वेष पर, तृष्णा तृष्णा है। वह प्राणी को दुःखी ही बनाती है।

दुःखद संवेदना तो स्पष्ट ही दुःखद है, परंतु सुखद संवेदना भी अनंत काल तक नित्य, शास्वत, ध्रुव नहीं बनी रहती। बदलती है तो दुःख में ही परिणित होती है और हमें दुःखी बनाती है। बदलते रहना इन संवेदनाओं का स्वभाव है, क्योंकि भौतिक शरीर और चित्त के संयोग से ही इनकी उत्पत्ति होती है और ये दोनों प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। अतः शरीर और चित्त की भांति ये संवेदनाएं भी अनित्य हैं, नश्वर हैं, भंगुर हैं, सतत परिवर्तनशील हैं।

ऐन्द्रिय विषय

इस महान वैज्ञानिक ने इसके अतिरिक्त एक और अत्यंत महत्त्वपूर्ण खोज की। प्रज्ञप्त यानी प्रकट सत्य यह भ्रांति पैदा करता है कि हमारी इंद्रियों का जब अपने-अपने विषय से स्पर्श होता है, यानी आंखों का रूप, रंग, रोशनी व आकृति इत्यादि से; कानों का शब्द से; नाक का गंध से; जीभ का रस से और शरीर का किसी पदार्थ से स्पर्श होता है और वह हमें अच्छा लगता है तब हम राग जगाते हैं, जब बुरा लगता है तब द्वेष जगाते हैं। उस महान वैज्ञानिक ने इसकी भी जांच की और पाया कि यह भी भ्रामक सत्य है। इस संबंध में उसने ऐसा सही सत्य खोजा, जिसके बारे में उसने अथवा अन्य किसी ने पहले कभी सुना तक नहीं था। वह सत्य यह था कि इन इंद्रियों पर जब तत्संबंधी विषयों का स्पर्श होता है तब अनिवार्यरूप से तत्क्षण शरीर में कोई संवेदना जागती है। इन संवेदनाओं के सुखद लगने पर राग और दुःखद लगने पर द्वेष जागता है। परिणामतः प्राणी दुःखी हो जाता है।

मन भी एक इन्द्रिय

इस महान वैज्ञानिक ने एक तथ्य और खोज निकाला कि इन पांचों इंद्रियों के अतिरिक्त मन भी अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण इंद्रिय है। इसमें जब चिंतन चलता है और वह सुखद लगता है तब यों प्रतीत होता है मानों इसी के कारण राग जागता है और जब दुःखद लगता है तब द्वेष जागता है। उसने देखा कि यह भी महज एक भ्रामक सत्य ही है। वास्तविक सत्य यह है कि जैसे ही मन में कुछ उभरता है, तत्क्षण शरीर पर कोई संवेदना जागती है। यह प्रकृति का अटूट नियम है। यह हो नहीं सकता कि मन में कोई चिंतन जागे और साथ-साथ शरीर पर कोई संवेदना न जागे।[२] यानी मन में जो कुछ जागा, उसके कारण राग, द्वेष की प्रतिक्रिया नहीं हुई बल्कि मन में जो कुछ जागा और इसके कारण शरीर पर जो संवेदना प्रकट हुई, उसके प्रति ही राग या द्वेष जागा। इसी कारण हम रोगी हुए, दुःखी हुए।

वैज्ञानिक चिकित्सक

इस महान वैज्ञानिक चिकित्सक ने रोग जान लिया, रोग का सही कारण जान लिया। यों दु:ख और दु:ख के सही कारण को जान लेना आवश्यक था, परंतु पर्याप्त नहीं था। यह तो उसके खूब समझ में आया कि शरीर पर होने वाली संवेदनाओं के प्रति राग या द्वेष की तृष्णा जगाने से मानव रोगी होता है, दु:खी होता है।[3] पर इसके निवारण का उपाय खोजना अधिक महत्त्वपूर्ण था। संवेदनाएं तो सारे शरीर में प्रतिक्षण जागती ही रहती हैं। उनके प्रति तृष्णा कैसे न जगने दे। इसके लिए उसने उन दिनों विलुप्त हो चुकी भारत की अत्यंत पुरातन विपश्यना साधना की विधि खोज निकाली।

विपश्यना साधना द्वारा चिकित्सा

शरीर में जो स्थूल घनीभूत संवेदनाएं होती हैं, जैसे गर्मी, पसीना, भारीपन, दवाव, दुखाव, तनाव इत्यादि उनको स्वानुभूति द्वारा जान लेना आसान है। परंतु सभी संवेदनाओं को जाने विना रोग का पूरा इलाज नहीं हो पाता। शरीर में अगणित प्रकार की संवेदनाएं चलती रहती हैं, उनमें से किसी के प्रति भी न राग जागे, न द्वेप, तभी वस्तुत: दु:ख से पूर्णतया छुटकारा मिल सकता है। इसके लिए मन को सभी प्रकार की संवेदनाओं को महसूस कर सकने योग्य वनाना आवश्यक है। इस निमित्त मन को एकाग्र करने के साथ-साथ अत्यंत सूक्ष्म, तीक्ष्ण और संवेदनशील वनाना अनिवार्य है जिससे कि वह शरीर में होने वाली सभी प्रकार की संवेदनाओं के प्रति जागरूक रहते हुए इन गहराइयों तक रागविहीन और द्वेपविहीन वने रहने का अभ्यास कर सके।

चित्त की एकाग्रता

जैसे आज वैसे ही उन दिनों भी चित्त को एकाग्र करने की अनेक विधियां प्रचलित थीं। विपश्यना के लिए वुद्ध ने एक अत्यंत उपयुक्त विधि ढूंढ निकाली। मन को सजग रखते हुए एक विंदु पर एकाग्र करना सिखाया। वह विंदु था नासिकग्गे यानी नासिका के आगे और उत्तरोट्ठस्स

वेमज्झप्पदेसे यानी ऊपरी ओठ के वीचोवीच। यह भी सिखाया कि चित्त केवल नैसर्गिक सांस के सहज आवागमन की जानकारी के लिए प्रयत्नशील रहे। इसके साथ कोई शव्द न जुड़ जाय, कोई आकृति न जुड़ जाय। अभ्यास की इस विशेपता के कारण दस दिन के शिविर में तीन दिन वीतते-वीतते नये-नये साधक का भी मन वहुत कुछ एकाग्र होने लगता है। तीसरे दिन इस एकाग्रता के साथ-साथ मन की सूक्ष्मता, तीक्ष्णता और संवेदनशीलता बढ़ती है। इस कारण इस केंद्र-विंदु के इर्द-गिर्द भिन्न-भिन्न प्रकार की नैसर्गिक संवेदनाएं महसूस होने लगती हैं। चौथे दिन से दसवें दिन तक पहुँचते-पहुँचते तो लगभग सभी साधकों को, सिर के सिरे से लेकर पांव की अंगुलियों तक, सारे शरीर में, अंग-प्रत्यंग में, भिन्न-भिन्न प्रकार की नैसर्गिक संवेदनाएं महसूस होने लगती हैं। साधक इन सवेदनाओं का निर्माण नहीं करता। इनकी कल्पना भी नहीं करता। यथार्थतः स्वानुभूति के आधार पर काम करने पर जो होता है वह स्वतः होता है। साधारणतया कुछ स्थूल संवेदनाएं हमारे उस ऊपरी मन को महसूस होती रहती हैं, जिसे वुद्ध ने परित्त चित्त यानी परिमित चित्त यानी छोटा चित्त कहा। परंतु अंतर्मन की गहराइयों में स्थूल और सूक्ष्म सभी प्रकार की संवेदनाएं सतत प्रवर्तमान होती रहती हैं। एकाग्र हुए तीक्ष्ण चित्त से अंतर्मन और ऊपरी मन के वीच की दीवारें टूटती हैं। अतः संपूर्ण मानस इन सभी संवेदनाओं की स्पष्ट अनुभूति करने लगता है। साधक स्वानुभूति के आधार पर इनके अनित्य स्वभाव को समझता है और नासमझी से इनके प्रति जो राग-द्वेप के मैल प्रजनन करता रहता है, उस स्वभाव को पलटने का अभ्यास करता है। इससे दूपित विकारों से जड़ों तक छुटकारा मिलने लगता है। मानव नकारात्मक से सकारात्मक भावनाओं का जीवन जीने लगता है। एक ओर द्वेप, द्रोह, दुर्भावनाओं से धीरे-धीरे छुटकारा पाने लगता है, दूसरी ओर उनके स्थान पर मैत्री, करुणा और सद्भावना की पुष्टि होने लगती है। यह सव निसर्ग के नियमों के अनुसार होता है।

सभी शारीरिक संवेदनाओं को महसूस करते हुए उनके प्रति राग-द्वेप की प्रतिक्रिया करने के स्वभाव को पलट कर तटस्थ भाव वनाए रखने की इस विपश्यना विद्या का सुखद परिणाम प्रकट होने लगता है जो कि नित्यप्रति के अभ्यास द्वारा विकारों से सर्वथा विमुक्ति दिलाने लगता है।

महान वैज्ञानिक वुद्ध द्वारा इन संवेदनाओं की पूर्णतया जानकारी और इन्हीं के आधार पर मनोविकारजन्य दु:खों की उत्पत्ति और इन्हीं के आधार पर दु:ख-विमुक्ति दायिनी की विपश्यना विधि की खोज, उन दिनों के सभी वर्ग के जनमानस के लिए अत्यंत हितकारिणी सावित हुई। इसी प्रकार आज भी जनहितकारिणी सावित हो रही है।

व्यसन विमुक्ति

जैसे अन्य मनोविकार वैसे ही किसी भी वस्तु के प्रति जागा हुए व्यसन का विकार भी भयानक दु:खदायी होता है। व्यसन के विकार के जागने पर उसके साथ-साथ उत्पन्न हुई शारीरिक संवेदना को तटस्थ भाव से निरखते-निरखते व्यसन दुर्वल होने लगता है। इस प्रकार हजारों लोगों ने विपश्यना के अभ्यास द्वारा व्यसन-विमुक्ति का भरपूर लाभ उठाया है और उठा रहे हैं।

सदाचरण की पुष्टि

व्यक्ति को सही माने में धार्मिक वनने के लिए दुराचरण से विरत और सदाचरण में निरत रहना आवश्यक है। वुद्ध ने दुराचरण से दूर रहने के लिए पंचशील की शिक्षा दी। लेकिन मात्र मौखिक शिक्षा से कोई शीलवान नहीं वनता। अत: समाधि द्वारा मन को वश में करना सिखाया, ताकि जव-जव मन में दुराचरण के भाव जागें तव-तव मन को नियंत्रित करके उसे वुरे मार्ग पर जाने से रोके। परंतु वुद्ध ने देखा कि केवल संयम और दमन से वास्तविक सुधार नहीं होता। अत: उन्होंने प्रज्ञा में पुष्ट होना सिखाया। इससे मानव सदा के लिए दुराचरण से मुक्त हो सकता है। उन्होंने यह खोज की कि मानव जव-जव दुराचरण करता है तव-तव पहले मन में दूषित विकार जगाता है। हत्या करने के लिए द्वेष, क्रोध; चोरी करने के लिए लोभ, लालच; व्यभिचार करने के लिए कामवासना; झूठ और कड़वी वात वोलने के लिए अहंकार; नशा-पता करने के लिए व्यसन का विकार जगाता है। प्रज्ञा में पका हुआ व्यक्ति इस सच्चाई को स्पष्ट देख लेता है कि मन में जागा हुआ प्रत्येक विकार उसे व्याकुल वना देता है। दुराचरण द्वारा किसी

की हानि करने के पहले अपने आप की हानि कर लेता है।[४] अपनी हानि कौन करना चाहता है? प्रज्ञा में पका हुआ व्यक्ति जागे हुए विकारों से उत्पन्न हुई दुःखद शारीरिक संवेदनाओं को तटस्थ भाव से देखते-देखते उनका उन्मूलन कर लेता है। इस प्रकार दुराचरण के दूषित स्वभाव को संवेदनाओं के सहारे जड़ से उखाड़ कर सदाचरण में पुष्ट होने का यह नायाव तरीका महान वैज्ञानिक बुद्ध की, मानव समाज के लिए अद्भुत देन है।

दुराचरण से सर्वथा विमुक्त हुए और सदाचरण में पुष्ट हुए साधक के लिए बुद्ध ने अधिकतर धम्मिको यानी धार्मिक शब्द का प्रयोग किया है। परंतु समय-समय पर अन्य विशेषणों का भी प्रयोग किया। वे सभी बुद्ध की सार्वजनीन शिक्षा के मंगल उद्घोष हैं। वह धम्मी (धर्मी) धम्मचारी (धर्मचारी), धम्मविहारी (धर्मविहारी) धम्मानुसारी (धर्मानुसारी), धम्मट्ठो (धर्मस्थ) धम्मधर (धर्मधर), धम्मञ्ञू (धर्मज्ञ) धम्मधारी (धर्मधारी), धम्मधज (धर्मध्वज), धम्मरक्खित (धर्मरक्षित), धम्माधिपति (धर्माधिपति), धम्मानुवत्ती (धर्मानुयायी) इत्यादि– ये सभी विशेषण सार्वजनीन हैं। किसी एक सम्प्रदाय के लोगों तक सीमित नहीं हैं, बल्कि धर्म में पके हुए सभी लोगों के लिए हैं।

सार्वजनीन रोग का सार्वजनीन इलाज

मानस में उठने वाले विकार किसी जातिविशेष से जुड़े नहीं होते। सार्वजनीन होते हैं। मसलन मन में क्रोध जागे और उसके कारण शरीर में गरमी, धड़कन, तनाव आदि की अप्रिय शारीरिक संवेदनाएं जागें तब उन पर जातीय या साम्प्रदायिक लेवल कैसे लगा सकते हैं? उन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कैसे कह सकते हैं? उन्हें हिंदू, मुस्लिम, बौद्ध, जैन या ईसाई इत्यादि कैसे कह सकते हैं? उन्हें भारतीय, पाकिस्तानी, चीनी, जापानी या अमरीकी आदि कैसे कह सकते हैं? जैसे मलेरिया आदि रोग सार्वजनीन हैं वैसे ही मनोविकारों के सभी रोग सार्वजनीन हैं। इसी प्रकार उनके परिणामस्वरूप जागा हुआ दुःख भी सार्वजनीन है, सार्वदेशिक है, सार्वकालिक है। भगवान बुद्ध ने सार्वजनीन दुःख का एक परम वैज्ञानिक और सुफलदायी सार्वजनीन इलाज ढूंढ निकाला। जब मन को एकाग्र करने

के लिए किसी शब्द के, किसी काल्पनिक आकृति के, किसी दार्शनिक मान्यता के आलंवन के विना, वुद्ध शुद्ध नैसर्गिक सांस का आलंवन अपनाने की शिक्षा देते हैं, तव यह सार्वजनीन आलंवन होता है। विपश्यना करते हुए जव विकारों से संवंधित संवेदनाओं के अनित्य स्वभाव को अनुभूति द्वारा समझते हुए उनके संवर्धनकारी स्वभाव को पलट कर उनके प्रति तटस्थ वने रहने का अभ्यास कराते हैं तव हम देखते हैं कि रोग और रोग का इलाज दोनों ही सार्वजनीन हैं। किसी जाति या सम्प्रदाय विशेप से जुड़े नहीं हैं।

विपश्यना भगवान वुद्ध द्वारा खोजी गयी विद्या होने पर भी वौद्ध सम्प्रदाय तक सीमित नहीं है, वल्कि सव की है। इसीलिए भगवान वुद्ध के समय उसे विना झिझक सवने अपनाया। सम्राट अशोक के समय भारत ही नहीं, सभी पड़ोसी देशों ने भी अपनाया। इसी प्रकार अव २५०० वर्प के द्वितीय वुद्ध शासन के आरंभ से अव तक यह कल्याणी चिकित्सा-विद्या भारत की सभी जातियों और सम्प्रदायों द्वारा ही नहीं, वल्कि विश्वभर के विभिन्न देशवासियों द्वारा विना भेदभाव के स्वीकृत हुई है, उनमें प्रचलित हुई है, उनके लिए समान रूप से लाभदायक सिद्ध हुई है।

आज द्वितीय वुद्ध शासन आरंभ होने के केवल ५० वर्प वीतते-वीतते भारत तथा वाहर के देशों में १३२ स्थायी निवासीय केंद्रों की स्थापना हो चुकी है। इनके अतिरिक्त अन्य लगभग २०० अस्थाई निवासीय केंद्रों में भी विपश्यना के सत्र लगते रहते हैं। संसार का एक भी ऐसा प्रमुख सम्प्रदाय नहीं है जिसके अनुयायी विपश्यना में भाग न लेते हों। साधारण सामान्य गृहस्थ ही नहीं वल्कि उन-उन सम्प्रदायों के धर्मगुरु विपश्यना में भाग लेते हैं और लाभान्वित होते हैं। यही नहीं हिंदू, वौद्ध, जैन, सिक्ख, पारसी, ईसाई, मुस्लिम, यहूदी आदि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों से आए हुए लोग विपश्यना प्रशिक्षण की उचित ट्रेनिंग पाकर विपश्यना आचार्य की सफल भूमिका निभा रहे हैं। न इन आचार्यों को विपश्यना सिखाने में कोई झिझक है और न इन सम्प्रदायों के लोगों को सीखने में कोई झिझक होती है। विपश्यना के असाम्प्रदायिक होने का इससे वड़ा प्रमाण और क्या होगा?

सम्प्रदायवाद का विरोध

विपश्यना जितना जातिवाद का विरोध करती है उतना ही सम्प्रदायवाद का। भगवान बुद्ध सम्प्रदायवाद को धर्मविरोधी मानते थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि जो तैर्थिक हैं यानी सम्प्रदायवादी हैं; धर्म उनका विषय नहीं है, उनकी गोचरभूमि नहीं है। क्योंकि वह अपने साम्प्रदायिक कर्मकांडों को और दार्शनिक मान्यताओं को ही धर्म मान बैठते हैं। शील, समाधि और प्रज्ञा की प्रशंसा भले करें, पर पालन करना आवश्यक नहीं समझते। इसी कारण, जैसे जातिवाद से वैसे ही सम्प्रदायवाद से मानव समाज का विभाजन होता है। वह टूटता है, जुड़ता नहीं।

इसी कारण विपश्यना के शिविरों में धर्मांतरण या यों कहें कि सम्प्रदायांतरण सर्वथा निषिद्ध है।

विपश्यना भगवान बुद्ध की देन है। भगवान ने कोई सम्प्रदाय स्थापित नहीं किया। न अपनी शिक्षा को कभी **बौद्धधर्म** कहा और न अनुयायियों को बौद्ध कहा। अपनी शिक्षा को धर्म कहा और अनुयायियों को धार्मिक। २४०० वर्ष पहले सम्राट अशोक ने सम्पूर्ण तिपिटक और तत्संबंधी अन्य पाली साहित्य तथा विपश्यना विद्या पड़ोसी देशों में भेजी। तत्पश्चात बहुत शीघ्र ही भारत से, दोनों पूर्णतया लुप्त हो गयीं। २५०० वर्ष के द्वितीय बुद्ध शासन के आरंभ होने पर दोनों अपने शुद्ध रूप में बरमा से भारत लायी गयीं। इगतपुरी में स्थापित **'विपश्यना विशोधन विन्यास'** ने लगभग ५०,००० पृष्ठों के समस्त विपुल पालि साहित्य को १४० बृहत ग्रंथों में प्रकाशित किया, सी.डी. रोम में और इंटरनेट पर भी निवेसित किया। इस विशाल साहित्य के अनुसंधान द्वारा ही यह देख कर सुखद आश्चर्य हुआ कि भगवान ने अपनी शिक्षा को कहीं 'बौद्धधर्म' नहीं कहा और न ही अनुयायियों को 'बौद्ध' कहा। ऐसा होता तो सम्प्रदाय बन ही जाता। आगे जाकर जब 'बौद्ध 'शब्द का खुला दुरुपयोग होने लगा, तब केवल एक ही नहीं बल्कि एक से अधिक सम्प्रदायों की स्थापना हो गयी। संप्रदायों से जुड़ जाने पर बौद्धधर्म केवल बौद्धों का हो कर रह गया, जबकि धर्म सबका होता है। बौद्ध एक सम्प्रदाय विशेष के सदस्य बन कर रह गये, जबकि सभी सम्प्रदाय के लोग धार्मिक बन सकते हैं। आज विपश्यना से यही सही काम हो भी रहा है। लोग बौद्ध नहीं, धार्मिक बन रहे हैं।

प्रथम धर्मदूत

भगवान ने पहले पहल नये-नये अरहंत हुए अपने ६० धर्मपुत्रों को जब धर्मदूत बना कर भेजा, तब उन्हें जो आदेश दिया वह ध्यान देने योग्य है। उन्होंने कहा –

चरथ भिक्खवे चारिकं, बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय –

भिक्षुओ! बहुजन के हित सुख के लिए, लोगों पर अनुकम्पा करते हुए धर्मचारिका पर निकल पड़ो!

उन्होंने आगे कहा –

देसेथ, भिक्खवे, धम्मं।

भिक्षुओ, धर्म का उपदेश दो!

(यह नहीं कहा कि बौद्धधर्म का उपदेश दो!)

साथ-साथ सार्वजनीन धर्म की व्याख्या करते हुए यह भी समझाया कि धर्म वह होता है जो –

आदि कल्याणं, मज्झे कल्याणं, परियोसान कल्याणं।

यानी आदि में कल्याणकारी है, मध्य में कल्याणकारी है और अंत में कल्याणकारी है। यानी शील में कल्याणकारी है, समाधि में कल्याणकारी है और प्रज्ञा में कल्याणकारी है।

और फिर कहा – कि धर्म वह होता है जो केवल **परिपुण्णं** हो यानी नितांत परिपूर्ण हो। इतना परिपूर्ण कि इसमें कुछ और जोड़े जाने की जरा भी गुंजाइश नहीं हो। बल्कि जोड़ने पर यह परिपूर्ण होने की अपनी महानता गँवा बैठेगा। उदाहरण स्वरूप जब इसमें कोई शब्द जोड़ कर, इसे धर्म के स्थान पर बौद्धधर्म, हिंदूधर्म या जैनधर्म आदि कहने लगेंगे, तब इसकी महानता नष्ट हो जायगी। साम्प्रदायिकताशून्य विशाल धर्म, सीमित सम्प्रदाय होकर रह जायगा। छोटा बन कर रह जायगा।

भगवान ने धर्म के वारे में एक अन्य अवसर पर वहुत स्पष्ट शव्दों में कहा –

'अप्पमाणो धम्मो' यानी जो धर्म है उसका प्रमाण नहीं होता, उसकी सीमा नहीं होती।

वह असीम है। सर्वव्यापी है। सवका है। उस असीम को ससीम वना कर, महान को लघु वना कर हम उसका अवमूल्यन न कर दें।

धर्म की व्याख्या करते हुए उन्होंने फिर कहा – केवल परिसुद्धं यानी धर्म वह होता है जो नितांत परिशुद्ध हो। धर्मके किस भाग को अशुद्ध कह कर वाहर निकालें? न शील को, न समाधि को और न प्रज्ञा को। इन तीनों में से किसी को नहीं निकाल सकते।

तीनों के साथ रहने में ही इसकी परिशुद्धता है, परिपूर्णता है। इसमें कोई छेड़छाड़ नहीं करेंगे तो ही धर्म सार्वजनीन रहेगा, सार्वदेशिक यानी सार्वभौमिक रहेगा, सार्वकालिक यानी सनातन रहेगा। इसी से धर्म का गौरव कायम रहेगा। अतः भगवान वुद्ध की शिक्षा को धर्म ही कहें, वौद्धधर्म नहीं। इसे किसी एक सम्प्रदाय विशेष का द्योतक न वनने दें। किसी एक सम्प्रदाय से न वँधने दें।

धर्म पर किसी एक सम्प्रदाय का सर्वाधिकार नहीं होता। सवका होता है तो ही धर्म, धर्म होता है। विपशयना के केंद्र स्थापित होने के पहले विपशयना के शिविर हिंदू मंदिरों में, जैन मंदिरों में, वुद्ध विहारों में, मसजिद में, गिरजाघरों में लगते रहे। किसी ने कभी कोई विरोध नहीं किया। संसार की सभी आध्यत्मिक परंपराएं सदाचार के जीवन को महत्त्व देती हैं। इस निमित्त मन को संयत करने और निर्मल करने को महत्त्व देती हैं। और विपश्यना यही सिखाती है। इसका कोई क्यों विरोध करता भला!

—

एक धर्मांतरण स्वीकृत

यद्यपि सभी धर्मांतरण, या यों कहें, सम्प्रदायांतरण हमें पूर्णतया अस्वीकृत हैं। परंतु यह एक ऐसा धर्मांतरण है जिसे हम विशिष्ट कारणों से तहेदिल से स्वीकार करते हैं। वह है भारतरत्न बाबासाहेब आम्बेडकर द्वारा सन १९५६ में लाखों लोगों को एक नई दिशा प्रदान करने का एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्यक्रम। बरमा तथा अन्य पड़ोसी देशों में सदियों से एक मान्यता चली आ रही है कि सम्राट अशोक के चंद वर्षों के भीतर भगवान बुद्ध की मूल वाणी और उनकी सिखायी हुई विपश्यना विद्या, भारत से पूर्णतया विलुप्त हो जायगी। परंतु भगवान बुद्ध के २५०० वर्ष के समापन पर ये दोनों बरमा से पुनः भारत लौटेंगी। भारत इन्हें सहर्ष स्वीकार करेगा। तदनंतर ये सारे विश्व में फैलेंगी।

बाबासाहेब आम्बेडकर २५०० वर्ष के प्रथम बुद्ध शासन के अंत में यानी १९५४ में बरमा गये। वहां के धर्म नेताओं से मिले और बुद्ध की शिक्षा स्वीकार ही नहीं की, बल्कि भारत लौट कर दूसरे बुद्ध शासन के द्वितीय वर्ष में यानी १९५६ में अपने साथ लाखों लोगों को बुद्ध की शिक्षा में दीक्षित किया।

यद्यपि साधारणतया यह धर्मांतरण माना जाता है, परंतु मेरे लिए यह समाजांतरण था। अमानुषिक पददलित आक्रांत जीवन जीने वाले देश के करोड़ों लोगों को इस दुरावस्था से उबारने का एक ऐतिहासिक कार्य था। वे जो सदियों से ऐसी सामाजिक दुरावस्था में रहते हुए घोर प्रपीड़ित जीवन जी रहे थे, उन्हें ऐसे दूषित समाज के बाहर निकाल कर, स्वाभिमान के साथ सिर ऊंचा उठा कर जीने का अवसर प्रदान किया गया था।

मैं नहीं मानता कि उन्होंने कोई नया सम्प्रदाय स्थापित किया। सच्चाई यह है कि वे सम्प्रदायवाद के विरोधी थे। इसीलिए स्वतंत्र भारत के लिए उन्होंने जो आदर्श संविधान बना कर दिया, उसे स्पष्ट शब्दों में 'सेकुलर' यानी सम्प्रदायनिरपेक्ष कहा गया।

एक और महत्त्व की बात ध्यान देने योग्य है। उन्होंने सन १९५६ में, नागपुर के दीक्षा समारोह में भाग लेते हुए अपने बंधुओं से कहा कि केवल नाम बदलने मात्र से वास्तविक लाभ नहीं मिलेगा। हमें बुद्ध की सिखायी हुई शिक्षा को जीवन में धारण करना होगा यानी धार्मिक बनना होगा। तभी कल्याण होगा।

एक अन्य अवसर पर उन्होंने यह भी कहा कि जव सारा भारत बुद्ध की शिक्षा के रंग में रँग जायगा तभी हमारी सभी समस्याओं का समाधान होगा। लोग बुद्ध की शिक्षा के रंग में रँग जाएं इसका अर्थ यह नहीं कि देश के सभी हिंदू, मुस्लिम, जैन, सिक्ख, ईसाई, पारसी आदि अपने आप को बौद्ध कहने लगेंगे। यह असंभव है। परंतु भगवान की पावन शिक्षा– शील, समाधि और प्रज्ञा का अभ्यास करते हुए धार्मिक वन जायेंगे। यानी वे धार्मिक हिंदू, धार्मिक मुस्लिम इत्यादि वन जायेंगे। तव ऊंच-नीच की पारस्परिक द्वेष, दुर्भाव की एवं अलगाववाद की मानसिकता अपने आप दूर होती चली जायगी। पारस्परिक भाईचारे का वातावरण निर्मित होता चला जायगा।

विपश्यना सार्वजनीन

विश्व भर के विपश्यना शिविरों में सभी जाति, गोत्र, कुल के लोग भाग लेते हैं। सभी सम्प्रदाय के और सभी देशों के लोग भाग लेते हैं। अमीर से अमीर और गरीव से गरीव भाग लेते है। शिविरों में विपश्यना के लिए ही नहीं, वल्कि निवास भोजन आदि के लिए भी कोई शुल्क नहीं लिया जाता। सव निःशुल्क होता है ताकि हर तवके के लोग विपश्यना का लाभ ले सकें। कोई संप्रदायांतरण (रिलीजस कन्वर्सन) (Religious conversion) नहीं किया जाता, ताकि सभी लोग वेझिझक इसका लाभ उठा सकें।

ध्यान के लिए कोई मूर्ति नहीं रखी जाती – न बुद्ध की, न किसी वोधिसत्व की, न किसी देवी या देवता या धर्मगुरु की। ध्यान मूर्ति का नहीं, अपने आप में झांकने का किया जाता है। अपने चित्त और चित्त वृत्तियों के प्रति अपने ही चित्त में जागे मनोविकारों और उनसे संवंधित शारीरिक संवेदनाओं के निरीक्षण का किया जाता है, ताकि अपने चित्त को विकारों से मुक्त कर सके। किसी प्रकार का कोई भी साम्प्रदायिक कर्मकांड नहीं किया-कराया जाता। इस कारण वड़ी संख्या में सभी सम्प्रदाय के लोग विना झिझक विपश्यना शिविरों में भाग लेते हैं।

काले, गोरे, पीले, भूरे सभी रंग के लोग भाग लेते हैं। शहरों के उद्भट विद्वान और गांवों के निरक्षर अनपढ़ भाग लेते हैं। न्यायाधीश, वकील और जेल के खूंखार कैदी भाग लेते हैं। विभिन्न स्तर के शीर्पस्थ शासकीय शासनाधिकारी और उन्हीं के विभाग के छोटे-मोटे कर्मचारी भाग लेते हैं। व्यापार और उद्योग के चीफ एक्जीक्यूटिव और उनके वर्कर्स भाग लेते हैं। पुरुप और नारी, वच्चे और वूढ़े,

स्कूल और विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी और प्रोफेसर भाग लेते हैं। सच्चाई यह है कि हर समाज के, हर तबके के लोग भाग लेते हैं। वे सब एक साथ बैठ कर ध्यान करते हैं। एक साथ बैठ कर भोजन करते हैं। शिविर के दौरान एक साथ रहते हैं। कोई भेदभाव नहीं बरता जाता। सब को अपने-अपने परिश्रम का एक जैसा फल मिलता है। इसलिए कह सकते हैं कि विपश्यना साधना में जरा-भी भेदभाव नहीं बरता जाता। भगवान बुद्ध की विपश्यना शिक्षा सार्वजनीन है, सब की है, सर्वथा सम्प्रदाय-विमुक्त है, वैश्विक है। इसमें सारे मानव समाज को जोड़ने के लक्षण हैं, तोड़ने के नहीं। भगवान बुद्ध की इस व्यावहारिक शिक्षा का प्रयोग, भारत ही नहीं, बल्कि विश्व के लोगों के कल्याण का कारण बनेगा। बनना आरंभ हो गया है। इससे विश्व में वास्तविक शांति स्थापित होगी। विश्व-बंधुत्व की वास्तविक भावना जागेगी और पुष्ट होगी। सबका मंगल होगा।

चिरं तिट्ठतु सद्धम्मो!
भवतु सब्ब मङ्गलं!!

नोटः

१. सब्बो पज्जलितो लोको, सब्बो लोको पकम्पितो॥

संयुत्तनिकाय, १.१.१६८, उपचालासुत्त

२. वेदनासमोसरणा सब्बे धम्मा।

अङ्गुत्तरनिकाय ३.८.८३, मूलकसुत्त

३. फस्सपच्चया वेदना, वेदनापच्चया तण्हा, ...

दीघनिकाय २.५७, महापदानसुत्त

४. "पुब्बे हनति अत्तानं, पच्छा हनति सो परे।

थेरगाथा १३९, वसभत्थेर



आचार्य श्री सत्यनारायणजी गोयन्का एवं श्रीमती इलायचीदेवी गोयन्का

श्री सत्यनारायणजी गोयन्का का जन्म म्यंमा (वर्मा) के मांडले शहर में १९२४ में हुआ। १०वीं कक्षा में सारे वर्मा में सर्वप्रथम आने पर भी पारिवारिक कारणों से आगे की पढ़ाई न कर सके। उन्होंने कम उम्र में ही अनेक वाणिज्यिक और औद्योगिक संस्थानों की स्थापना की और खूव धन अर्जित किया। अनेक सामाजिक तथा सांस्कृतिक केंद्रों की स्थापना की। तनावों के कारण शिरोरोग (Migraine) के शिकार हुए, जिसका उपचार वर्मा के ही नहीं, वल्कि विश्व के प्रसिद्ध डॉक्टर भी न कर सके। तव किसी ने उन्हें 'विपश्यना' की ओर मोड़ा, जो आज उनके तथा अनेकों के कल्याण का कारण वन गयी है।

सयाजी ऊ वा खिन से श्री गोयन्काजी ने १९५५ में विपश्यना विद्या सीखी और चौदह वर्षों तक उनके चरणों में वैठ कर अभ्यास करने के साथ वुद्धवाणी का भी अध्ययन किया। १९६९ में वे भारत आये और मुंवई में पहला शिविर लगा। तत्पश्चात शिविरों का तांता लग गया। १९७६ में इगतपुरी में पहला निवासीय विपश्यना केंद्र वना और अव तक विश्वभर में लगभग १६७ केंद्र वन गये हैं तथा नित नये वनते जा रहे हैं, जहां प्रशिक्षित किये हुए लगभग १२०० विपश्यनाचार्यों के माध्यम से विश्व की ५९ भापाओं में १०-दिवसीय शिविरों के अतिरिक्त, कई केंद्रों पर २०, ३०, ४५, ६० दिन के शिविर लगते हैं। सव का संचालन निःशुल्क होता है। भोजन, निवासादि का खर्च शिविर से लाभान्वित साधकों के स्वैच्छिक अनुदान से चलता है। इसके सर्वहितकारी स्वरूप को देख कर विश्व की अनेक जेलों और स्कूलों में ही नहीं, पुलिसकर्मियों, जजों, सरकारी अधिकारियों आदि के लिए भी शिविर लगाये जाते हैं।

ISBN 978-81-7414-289-4



VRI - H42